पूर्वाचार्य रचित

'सिरिचंदावेज्झय पइण्णयं'

गुजराती अनुवादक :

आचार्य श्री कलापूर्णसूरीश्वरजी

हिन्दी अनुवादक :

मुनि श्री जयानन्दविजयजी

श्री आदिनाथाय नमः
प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वराय नमः

पूर्वाचार्य रचित
'सिरिचंदावेज्झय पइण्णयं

दिव्याशीष
आचार्य श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी
आगमज्ञ मु. श्री रामचंद्रविजयजी

[तीन आयंबिल करके इस सूत्र का अध्ययन करना]

गुजराती अनुवादक :
आचार्य श्री कलापूर्णसूरीश्वरजी म.
हिन्दी अनुवादक :
मुनि श्री जयानन्दविजयजी म.

यह पुस्तक ज्ञान खाते में से छपी है।
श्रावकगण मूल्य भंडारमें डालकर मालिकी करें।

सिरिचंदावेज्झय पइण्णयं
गु. आचार्य श्री कलापूर्णसूरीश्वरजी
हिं. अ. मुनि श्री जयानंदविजयजी

वीर सं. २५२७
प्रत : २०००

'द्रव्य सहायक' प्राप्तिस्थान :
श्री सुमतिनाथ जैन पेढी
श्री राज धनतीर्थेन्द्र क्रियाभवन
मोधरा ३४३-०२८
जि. जालोर (राज.)

प्रकाशक : **गुरु श्री रामचंद्र प्रकाशन समिति भीनमाल**
संचालक : (१) सुमेरमल केवलजी नाहर भीनमाल
(२) मीलियन ग्रुप सूराणा
(३) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेतीजी हुकमाणी परिवार पांथेडी।
(१) शा देवीचंद छगनलाल सदर बाजार भीनमाल ३४३०२९
(२) नानालाल वजाजी शांतिविला अपार्टमेन्ट तीनबत्ती काजी का मैदान गोपीपूरा सूरत।
(३) महाविदेह भीनमालधाम तलेटी हस्तगिरि लिंक रोड, पालीताणा सौराष्ट्र ३६४२६०

लेसरटाईपसेटिंग : **शारदा मुद्रणालय**
जुम्मा मस्जिद सामे, गांधी रोड,
अमदावाद.

मुद्रक : **भगवती ऑफसेट**
१५/सी, बंसीधर एस्टेट, बारडोलपुरा,
अमदावाद.

सिरिचन्दा-वेज्झय पइण्णयं

जगमत्थयट्ठियाणं विगसियवरनाणदंसणधराणं ।
नाणुज्जोयगराणं लोगम्मि नमो जिणवराणं ॥ १ ॥

जगत (लोकपुरुष) के मस्तक (सिद्धशीला) पर नित्य बिराजमान विकसित पूर्ण श्रेष्ठज्ञान और दर्शन गुण धारक ऐसे श्री सिद्ध भगवंत और लोक में ज्ञान का उद्योत करने वाले श्री अरिहन्त भगवन्त को नमस्कार हो ।

इणमो सुणह महत्थं निस्संदं मुक्खमग्गसुत्तस्स ।
विगहनियत्तिअचित्ता, सोऊण य मा पमाइत्थ ॥ २ ॥

यह प्रकरण मोक्षमार्ग दर्शक जिनागमों का सारभूत और महान गंभीर अर्थयुक्त है, इसे चार प्रकार की विकथाओं से रहित होकर एकाग्र चित्त से सुनो और श्रवणकर उस अनुसार आचरण करने में अंश मात्र भी प्रमाद न करो ॥

विणयं आयरियगुणे सीसगुणे विणयनिग्गहगुणे य
नाणगुणे चरणगुणे मरणगुणे इत्थ वुच्छामि ॥ ३ ॥

इस पयन्ने में मुख्यता से सप्त विषयों का विचार करने में आया है । १ विनय, २ आचार्यके गुण, ३ शिष्य के गुण ४ विनयनिग्रह के गुण, ५ ज्ञानगुण, ६ चारित्रगुण ७ मरणगुण ॥

विनय स्वरूप

जो परिभवइ मणुस्सो आयरियं जत्थ सिक्खए विज्जं ।
तस्स गहियावि विज्जा दुक्खेण वि निष्फला होइ ॥ ४ ॥

जिन के पास से ज्ञान प्राप्त किया है उस आचार्य-गुरु का जो मानव

पराभव तिरस्कार अपमान करता है, वह विद्या चाहे जितने कष्ट से प्राप्त की हुई हो तो भी निष्फल होती है।

थद्धो विजयविहूणो न लहइ कित्तिं जसं च लोगम्मि।
जो परिभवं करेइ गुरुण गुरुआइ कम्माणं ॥ ५ ॥

पूर्व कर्म की प्रबलता के कारण जो जीव गुरुका पराभव करता है, वह अभिमानी, विनयहीन जीव जगतमें कहींभी यश या कीर्ति प्राप्त नहीं कर सकता परन्तु (सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा) अपमान को पाता है।

सव्वत्थ लभिज्ज नरो विस्सम्भं पच्चयं च कित्तिं च।
जो गुरुजणोवइट्ठं विज्जं विणएण गिण्हिज्जा ॥ ६ ॥

गुरुजनों से उपदेशित विद्या जो जीव विनय पूर्वक ग्रहण करता है, वह सर्वत्र आश्रय विश्वास और यश-कीर्ति को प्राप्त करता है।

अविणीयस्सपणस्सइ जइ वि न भस्सइ न जुज्जइ गुणेहिं
विज्जा सुसिक्खिया वि हु गुरु परिभव बुद्धिदोसेणं ॥ ७ ॥

अविनीत की श्रमपूर्वक प्राप्त विद्या भी गुरुजनों के अपमान करनेकी बुद्धि के दोष से अवश्य नाश-नष्ट होती है। कदाचित सर्वथा नाश न हो तो भी अपना वास्तविक फल देने वाली नहीं बनती।

विज्जामणुसरियव्वा न हु दुव्विणीयस्स होइ दायव्वा।
परिभवइ दुव्विणीओ तं विज्जं तं च आयरियं ॥ ८ ॥

विद्या बार-बार याद करने योग्य है, संग्रहित करने योग्य है, दुर्विनीत-अपात्र को देने योग्य नहीं है, क्योंकि दुर्विनीत विद्या और विद्या दाता गुरु दोनों का पराभव करता है।

विज्जं परिभवमाणो आयरियाणं गुणेऽपयासिंतो।
रिसिघायगाणं लोयं वच्चइ मिच्छत्तसंजुत्तो ॥ ९ ॥

विद्या का पराभव करने वाला और आचार्य के गुणों को प्रकाशित न करनेवाला अप्रशंसक प्रबल मिथ्यात्व को प्राप्त दुर्विनीत जीव ऋषिघातक की गति अर्थात् नरकादि दुर्गति को पाता है।

विज्जावि होइ वलिया गहिया पुरिसेणभागधिज्जेण ।
सुकुलकुल बालिया विव असरिसपुरिसं पइं पत्ता ॥ १० ॥

विनयादि गुणयुक्त पुन्यशाली की प्राप्त विद्या प्रभावक बनती है। जैसे उत्तम कुल में जन्मी कुमारिका असाधारण-उत्तम पुरुष को पति रूपमें प्राप्त कर महान बनती है। (मयणा-श्रीपाल समान)

सिक्खाहि ताव विणयं किं ते विज्जाइ दुव्विणीयस्स ।
दुस्सिक्खिओ हु विणओ सुलहा किज्जा विणीयस्स ॥ ११ ॥

हे वत्स ! विनीत न हो वहाँ तक विनय का ही अभ्यास कर। क्योंकि दुर्विनीत ऐसे तुझे ज्ञानसे क्या प्रयोजन। वास्तव में विनय सीखना ही दुष्कर है, विद्या तो विनीत को अत्यन्त सुलभ है।

विज्जं सिक्खह विज्जं गुणेह गहियं च मा पमाएह ।
गहिय गुणिया हु विज्जा परलोयसुहावहा होइ ॥ १२ ॥

हे सुविनीत वत्स ! तु विनय पूर्वक विद्या-श्रुतज्ञान को सीख, ग्रहण की हुइ विद्या और गुण को बार-बार याद कर उसमें लेश भी प्रमाद न कर क्योंकि ग्रहण की हुई विद्या को बार बार याद करने से ही वह परलोक में सुखकारी होती है।

विणएण सिक्खियाणं विज्जाणं परिसमत्तसुत्ताणं
सक्काफलमणुभुत्तुं गुरुजणतुट्ठोवइट्ठाणं ॥ १३ ॥

विनयपूर्वक प्राप्त, प्रसन्नता पूर्वक गुरु द्वारा प्रदत्त और सूत्र संपूर्ण कंठस्थ उपस्थित ज्ञान का फल अवश्य अनुभवित किया जा सकता है। [समाधि-समता रुप फल अवश्य प्राप्त होता है]

दुल्लभया आयरिया विज्जाणं दायगा समत्ताणं ।
ववगयचउक्कसाया दुल्लहगा सिक्खगा सीसा ।

इस विषम काल में समस्त श्रुतज्ञान के दाता आचार्य दुर्लभ है और चार कषाय रहित श्रुतज्ञान ग्राही शिष्य भी मिलने दुर्लभ है।

पव्वइयस्स गिहिस्स वा विणयं चेव कुसला पसंसंति ।
न हु पावइ अविणीओ कित्तिं च जसंच लोगम्मि ॥

साधु हो या गृहस्थ उसके विनय गुणकी प्रशंसा ज्ञानी पुरुष अवश्य करते

है। [अर्थात् विनीत ही प्रशंसा पात्र बनता है अन्य नहीं] अविनीत कभी भी लोक में कीर्ति-यश को प्राप्त नहीं कर सकता।

जाणंतावि य विणयं केइ कम्माणु भाव दोसेणं।
निच्छंति पउंजित्ता अभिभूया रागदोसेहिं ॥ १६ ॥

कितने ही जीव विनय का स्वरूप, फलादि जानते हुए भी उस प्रकार के प्रबल अशुभ कर्मोदय के प्रभाव से राग द्वेष से अभिभूत होकर विनय की प्रवृत्ति करने की इच्छा नहीं करते।

अभणंतस्स य कस्सवि पसरइ किंचि जसं च लोगंमि।
पुरिसस्स महिलियाए विणीय विणयस्स दंतस्स ॥ १७ ॥

न बोलनेवाला या अधिक अध्ययन न करने वालोंकी भी विनय से सदा विनीत नम्र और इंद्रिय दमी कितने ही स्त्री-पुरुषों की यश-कीर्ति लोकमें सर्वत्र प्रसरित होती है। [इस में विद्या से भी विनय की प्राधान्यता दर्शायी है]

दिंति फलं विज्जाओ पुरिसाणं भागधिज्ज भरियाणं।
न हु भागधिज्ज परिवज्जियस्स विज्जा फलं दिंति ॥ १८ ॥

विनय से प्राप्त भाग्यशालीता युक्त पुरुषों को ही विद्यां फलदाता होती है। अविनय से प्राप्त भाग्यहीनता युक्त जीवको विद्या फलवती नहीं होती।

विज्जं परिभवमाणो आयरियाणं गुणे पणासंतो।
रिसिघायगाणं लोयं वच्चइ मिच्छत संजुत्तो ॥ १९ ॥

विद्याका तिरस्कार दुरुपयोग करनेवाला और निंदा-अवहेलनादि द्वारा ज्ञानदाता आचार्य भगवंतादिके गुणों का नाशक गाढमिथ्यात्व से मोहित होकर ऋषिघातक की गति-दुर्गति को पाता है।

न हु सुलहा आयरिया विज्जाणं दायगा सम्मत्ताणं।
उज्जुय अपरित्तंता न हु सुलहा सिक्खगा सीसा ॥ २० ॥

वास्तव में समस्त श्रुतज्ञान दाता आचार्य की प्राप्ति सुलभ नहीं वैसे ही सरल और ज्ञानाभ्यास में सतत उद्यमी शिष्य मिलना भी सुलभ नहीं है।

विणयस्स गुणविसेसा एव मए वन्निया समासेणं।
आयरियाणं च गुणे एगमणा भे निसामेह ॥ २१ ॥

इस प्रकार विनयके गुण विशेष विनीत बनने से होने वाले लाभ (अविनीत से अलाभ) का संक्षेपमें वर्णन किया। अब आचार्य भगवंत के गुणों को कहता हूँ। वह एकाग्र चित्त से सुनो।

'आचार्य भगवंत के गुण'

वुच्छं आयरियगुणे अणेगगुणसयसहस्सधारीणं।
ववहारदेसगाणं सुयरयणसुसत्थवाहाणं ॥ २२ ॥

शुद्ध व्यवहार मार्ग के प्ररूपक, श्रुतज्ञान रूप रत्नों के सार्थवाह और क्षमादि अनेक लक्ष गुणधारक ऐसे आचार्य भगवंत के गुणों का स्वरुप संक्षेप में कहूँगा

पुढवीव सव्वसहं मेरूव्व अकंपिरं ठियं धम्मे।
चंदुव्व सोमलेसं ते आयरियं पसंसंति ॥ २३ ॥

भूमि के समान सर्वसहनशील, मेरु समान निष्प्रकंप-धर्म में निश्चल, और चन्द्र समान सौम्यता धारक आचार्य भगवंतो की ज्ञानी पुरुष प्रशंसा करते है। [ऐसे गुण धारक आचार्य होते हैं]

अपरिस्साविं आलोयणारिहं हेउकारणविहिण्णुं।
गंभीरं दुद्धरिसं तं आयरियं पसंसंति ॥ २४ ॥

शिष्यादि के दोष प्रकट न करने वाले अपरिश्रावी, आलोचना योग्य, [जिनको निवेदन करने से पापोंकी शुद्धि हो] हेतु-कारण विधि के ज्ञाता, गंभीर, परवादिओं से पराभव न पानेवाले ऐसे आचार्यों की ज्ञानी प्रशंसा करते हैं।

कालण्णुं देसण्णुं, भावण्णुं, अतुरियं असंभंतं।
अणुवत्तयं अमायं तं आयरियं पसंसंति ॥ २५ ॥

कालज्ञ, देशज्ञ, भावज्ञ धैर्यवान, असंभ्रांत, अनुवर्तक (संयमादि में प्रेरक) अमायावी आचार्य की ज्ञानी प्रशंसा करते हैं।

लोइय वेइय सामाइएसु, सत्थेसु जस्स वक्खेवो।
ससमयपरसमयविऊ, तं आयरियं पसंसंति ॥ २६ ॥

लौकिक, वैदिक और सामाजिक शास्त्रज्ञ, स्व समयज्ञपरसमयज्ञ ऐसे आचार्य की ज्ञानी स्तुति करते हैं। [स्वसमय जिनागम, परसमयलौकिक ग्रंथ]

बारसहिं वि अंगेहिं सामाइयमाइ पुव्वनिबद्धे ।
लद्धट्ठ-गहियट्ठं तं. आयरियं पससंति ॥ २७ ॥

जिस में प्रथम सामायिक और अंत में पूर्व निबद्ध है ऐसी द्वादशांगी के अर्थ को जिन्होंने प्राप्त किया है, ग्रहण किया है ऐसे आचार्य की विद्वद् जन श्लाघा करते हैं ।

आयरिय सहस्साइं लहइ य जीवे भवेहिं बहुएहिं ।
कम्मेसु य सिप्पिसु य अन्नेसु य धम्मचरणेसु ॥ २८ ॥

अनादि संसार में अनेक भवों में इस जीवने कर्म एवं शिल्पाचार्य और अन्य हजारों धर्माचार्य प्राप्त किये है । [परंतु वे भव समुद्र से पार होने की कलाके उपदेशक न होने से वास्तविक आचार्य नहीं है]

जे पुण जिणोवइट्ठे निग्गंथे पवयणम्मि आयरिया ।
संसारमुक्खमग्गस्स देसगा ते हु आयरिया ॥ २९ ॥

सर्वज्ञ कथित निर्ग्रन्थ प्रवचन में, जो संसार और मोक्ष मार्ग के यथार्थ उपदेशक है । वे ही परमार्थ से परम श्रेष्ठ आचार्य है ।

जह दीवा दीवसयं पइप्पए सो उ दिप्पए दीवो ।
दीवसमा आयरिया अप्पं च परं च दीवंति ॥ ३० ॥

जैसे एक प्रदीप्त दीपक से शतश : दीपक प्रकाशित होते है फिर भी वह दीपक प्रदीप्त प्रकाशमान ही रहता है । वैसे दीपक समान आचार्य भगवंत स्व-पर आत्म उद्धारक होते हैं ।

धन्ना आयरियाणं निच्चं आइच्चचंदभूयाणं ।
संसारमहण्णवतारयाणं पाए पणिवयंति ॥ ३१ ॥

सूर्य समान प्रतापी, चंद्र समान सौम्य शीतल, और कांतिमय और संसारार्णव से तारक आचार्य भगवंत के चरणों में पुण्यशाली प्रतिदिन प्रणाम करते हैं । वे धन्य हैं ।

इह लोइयं च कित्तिं लहइय आयरियभत्तिराएण ।
देवगइं सुविसुद्धं धम्मे य अणुत्तरं बोहिं ॥ ३२ ॥

ऐसे उत्तमाचार्य की भक्ति राग से इस लोक में कीर्ति, परलोक में उत्तम गति और धर्म में अनुत्तर अनन्य श्रद्धा प्राप्त होती है ।

देवा वि देवलोए निच्चं दिव्वोहिणा वियाणित्ता ।
आयरियाण सरंता आसणसयणाइं मुंचंति ॥ ३३ ॥

देवलोक के देव दिव्य अवधिज्ञान से आचार्य भगवंत को देखकर गुणस्मरण करते हुए नित्य अपने आसन शयन आदि से उठकर खडे होकर प्रणाम करते हैं ।

देवावि देवलोए निग्गंथं पवयणं अणुसरंता ।
अच्छरगणमज्झगया आयरिए वंदयाइंति ॥ ३४ ॥

देवलोक में अप्सराओं के मध्य में रहे हुए देव भी निर्ग्रन्थ प्रवचन-जिनशासन का स्मरण करते करते अप्सराओं के द्वारा आचार्यो को वंदन करवाते हैं ।

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं उववसंता वि ।
अकरिंता गुरुवयणं ते हुंति अणंत संसारी ॥ ३५ ॥

जो साधु छट्ठ, अट्ठम, चार उपवास आदि दुष्कर तप करते हुए भी गुरु, वचन का पालन नहीं करते वे अनंत संसारी होते हैं ।

ए ए अन्नेय बहुआयरियाणं गुणा अपरिमिज्जा ।
सीसाण गुणविसेसे केवि समासेण वुच्छामि ॥ ३६ ॥

यहाँ बताये वे और अन्य भी अनेक आचार्य भगवंत के गुण होने से उनकी संख्या का प्रमाण नहीं हो सकता ।

अब मैं शिष्य के विशिष्ट गुणों को संक्षेप में कहूँगा ।

'शिष्यगुण'

नीयावित्ति विणीयं अमत्तयं गुणवियाणयं सुयणं ।
आयरियमइवियाणिं सीसं कुसला पसंसंति ॥ ३७ ॥

नम्रवृत्तिवान, विनीत, निरभिमानी, गुणज्ञ, सज्जन और आचार्य के अभिप्राय का ज्ञाता उस शिष्य की प्रशंसा पंडित करते हैं ।

सीयसहं उव्हसहं वायसहं खुह-पिवास अरइसहं ।
पुढवीवसव्वसहं सीसं कुसला पसंसंति ॥ ३८ ॥

शीत, ताप, वायु, क्षुधा, प्यास और अरति को सहन करनेवाला. पृथ्वी समान प्रतिकुलतादि को सहन करनेवाले शिष्य की कुशल पुरुष प्रशंसा करते हैं ।

लाभेसु अलाभेसु च अविवण्णो होइ जस्समुहवण्णो ।
अपिच्छं संतुट्ठं सीसं कुसला पसंसंति ॥ ३९ ॥

उपधि आदि के लाभ या अलाभ के प्रसंग में भी जिनके मुख का रंग हर्ष या खेद युक्त नहीं होता और जो अल्प इच्छावाला और सदा संतुष्ट होता है । उस शिष्य की पंडितजन प्रशंसा करते हैं ॥

छव्विहविणय विहिन्नू अज्झइयो सो हु कुच्चइ विण (णी)ओ ।
इड्ढीगारवरहियं सीसं कुसला पसंसंति ॥ ४० ॥

जो छ प्रकार की विनय विधि का ज्ञाता है, आत्महित की रूचिवाला है ऐसा विनीत और ऋद्धि आदि गारव रहित शिष्य की गीतार्थ पुरुष प्रशंसा करते हैं ।

दसविहवेयावच्चंमि उज्जयं उ(न्न)ज्जयं च सज्झाए ।
सव्वावस्सगजुत्तं सीसं कुसला पसंसंति ॥ ४१ ॥

दश प्रकार की वैयावच्च में उद्यत वाचनादि स्वाध्याय में प्रयत्नशील, सर्व आवश्यक में उद्युक्त अप्रमत्त शिष्य की ज्ञानी पुरुष प्रशंसा करते हैं ।

आयरियवन्नवाइं गणिसेविं कित्तिवद्धणं धीरं ।
धीधणियबद्धकच्छं सीसं कुसला पसंसंति ॥ ४२ ॥

आचार्यभगवंत के गुणगायक, गच्छवासी गुरु और शासन के कीर्ति वर्धक, निर्मल प्रज्ञासे स्व ध्येय प्रति जागृत शिष्य की महर्षिजन प्रशंसा करते है ।

हंतुण सव्वमाणं सीसो होऊण ताव सिक्खाहि ।
सीसस्स हुंति सीसा न हुंति सीसा असीसस्स ॥ ४३ ॥

हे मुमुक्षु ! सभी प्रकार से मान मारकर, ग्रहण और आसेवन शिक्षा प्राप्तकर शिष्यत्व प्रकट कर जिससे सुविनीत शिष्य के शिष्य होते है अविनीत अशिष्य के नहीं । [सुविनीत शिष्य ही गुरुपद के योग्य है]

वयणाइं सुकडुयाइं पणयसिद्धाइं विसहियव्वाइं ।
सीसेणायरियाणं नीसेसं मग्गमाणेणं ॥ ४४ ॥

सुविनीत शिष्य को गुरु के अतिशय कटु और अति प्रेमाल वचनों को अच्छी प्रकार सहन करने चाहिए । [मनमें रोष-तोष नहीं आना चाहिए]

जाइकुलरुवजुव्वणबलविरियसमत्तसत्तसंजुत्तं ।
मिउसद्दवाइमपि सुणमसढमथद्धं अलोभं च ॥ ४५ ॥

अब शिष्य की परिक्षा के लिए उसके कितने ही विशिष्ट लक्षण और गुण बताते हैं। जो पुरुष उत्तम जाति, कुल-रुप-यौवन-बल-वीर्य-पराक्रम-समता और सत्त्व गुणयुक्त हो मधुरभाषी, अ-पर परिवादी, अशठ, नम्र और अलोभी हो ।

पडिपुण्णं पाणिपायं अणुलोमं निद्धउवचियसरीरं ।
गंभीर तुङ्गनासं उदारदिट्ठिं विसाल लच्छं ॥ ४६ ॥

अक्षत हस्त, पादवान, अणुलोमवाला, स्निग्ध और पुष्ट देह युक्त, गंभीर, उन्नत नासिका वान, उदार दृष्टि दीर्घ दृष्टि वाला और विशाल नेत्र वाला ।

जिणसासणमणुरत्तं गुरु जण मुहपिच्छगं च धीरंच ।
सद्धागुणपडिपुन्नं विकारविरयं विणयमूलं ॥ ४७ ॥

जिनशासन का अनुरागी, गुरुमुखदर्शक, धीर, श्रद्धा गुण से परिपूर्ण, विकार रहित और विनय प्रधान जीवन जीनेवाला ।

कालन्नुं देसन्नुं समयन्नुं सीलरूवविणयन्नुं ।
लोहभयमोहरहियं जिय निद्धपरीसहं चेव ॥ ४८ ॥

काल, देश और समय-प्रसंग को पहचानने वाला, शील रूप विनय का ज्ञाता, लोभ, भय, मोह से रहित, निद्रा और परीषह जयी को कुशल पुरुष शिष्य कहते है ।

जइवि सुयनाण कुसलो होइ नरो हेउकारण विहिन्नू ।
अविणीयं गारवियं न तं सुयहरा पसंसंति ॥ ४९ ॥

कोइ शिष्य कदाचित् श्रुतज्ञान में कुशल हो, हेतु, कारण और उसके प्रयोग की विधिका ज्ञाता हो फिर भी यदी वह अविनीत और गौरव (मान) युक्त हो तो भी श्रुतधर महर्षि उसकी प्रशंसा नहीं करते ।

सीसं सुइमणुरत्तं निच्चं विणयोवयारसंजुत्तं ।
वाएज्जज्जवगुणजुत्तं पवयण सोहाकरं धीरं ॥ ५० ॥

पवित्र, अनुरागी, नित्य विनयाचार युक्त, सरल हृदयी, प्रवचन प्रभावक और धीर ऐसे शिष्य को आगम की वाचना नित्य देनी चाहिए ॥

इत्तो जो परिहीणो गुणेहिं गुणसयनयोववेएहिं ।
पुत्तं पि न वाएज्जा किं पुण सीसं गुण विहीणं ॥ ५१ ॥

उक्त विनयादि गुण हीन और अन्यनयादि शतादि गुण युक्त ऐसे पुत्र को भी हितैषी पंडित शास्त्राध्ययन नहीं कराता तो सर्वथा गुण हीन शिष्य को शास्त्रज्ञान किस प्रकार करवाया जाय ?

एसा सीसपरिक्खा कहिया निउणत्थ सत्थ उवइड्ढा ।
सीसो परिक्खियव्वो पारत्तं मग्गमाणेण ॥ ५२ ॥

निपुण-सूक्ष्म अर्थयुक्त शास्त्रो में विस्तार पूर्वक दर्शित यह शिष्य परीक्षा संक्षेप में दर्शायी है। पारलौकिक हिताकांक्षी गुरु को शिष्य की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए ।

सीसाणं गुणकित्ती एसा मे वन्निया समासेणं ।
विणयस्स निग्गहगुणे ओहियहियया निसामेह ॥ ५३ ॥

सुशिष्यों के गुणों का कीर्तन संक्षेप में मैंने किया। अब विनयके निग्रह-जय से प्राप्त गुणों का वर्णन करुंगा, वह तुम सावधान चित्तयुक्त होकर, सुनों।

'विनय निग्रह जय गुण'

विणओ मुक्खद्दारं विणयं माहु कयावि छड्डिज्जा ।
अप्पसुओवि हु पुरिसो विणएण खवेइ कम्माइं ॥ ५४ ॥

विनय मोक्ष का द्वार है अत: मोक्षेच्छा वाले को विनय कभी नहीं छोडना चाहिए। क्यों कि अल्प श्रुत ज्ञानी विनय से सभी कर्मोंका क्षय कर देता है।

जो अविणीयं विणएण जिणइ सीलेण जिणइ निस्सीलं ।
सो जिणइ तिन्निलोए पावमपावेण सो जिणइ ॥ ५५ ॥

जो जीव अविनय को विनय से, दुराचार को सदाचार से, और पाप-अधर्म को धर्म से जीत लेता है। वह तीनों लोक को जीत लेता है। [अर्थात् विनय से तीन भुवन का पूज्य पद तीर्थंकर पद प्राप्त कर सिद्धपद पा लेता है ।]

जइवि सुयनाणकुसलो होइ नरो हेउकारणविहिन्नू ।
अविणीयं गारवीयं न तं सुयहरा पसंसंति ॥ ५६ ॥

जो जीव मुनि श्रुतज्ञानमें निपुण हो, हेतु, कारण, विधि का ज्ञाता हो

फिर भी अविनीत और गर्व सहित हो तो श्रुतधर-गीतार्थ उसकी प्रशंसा नहीं करते।

सुबहुस्सुयं पि पुरिसं कुसलाअप्प सुयंमि ठावंति।
गुणहीणं विनयहीणं चरित्तजोगेहिं पासत्थं ॥ ५७ ॥

बहुश्रुत मुनि भी गुणहीन, विनय हीन. और चारित्र योग में शिथिल हो तो गीतार्थ पुरुष उसे अल्प श्रुत वाला मानते हैं। [श्रुतज्ञान का फल गुण का विकास, विनय पूर्ण सहकार और चारित्र में स्थिरता है, वह न हो तो केवल श्रुतज्ञान का कोई अर्थ नहीं]

तवनियमसीलकलियं उज्जुत्तं नाणदंसणचरित्ते।
अप्पसुयं पि हु पुरिसं बहुस्सुयपयंमि ठावंति ॥ ५८ ॥

जो तप, नियम, और शील युक्त हो, ज्ञान, दर्शन और चारित्र में तत्पर हो उस अल्पज्ञानी मुनि को भी ज्ञानी बहुश्रुत का स्थान मान देते हैं। [कारण कि (ज्ञानस्य फलं विरतिः) ज्ञान का फल विरति उसके पास है]

सम्मत्तंमि य नाणं आयत्तं दंसणं चरित्तंमि।
खंतिबलाउ य तवो नियमविसेसो य विणयाओ ॥ ५९ ॥

सम्यक्त्व में ज्ञान, चारित्र में ज्ञान और दर्शन दोनों समाहित है। क्षमा के बल से तप और विनय से विशिष्ट प्रकार के नियम सफल-स्वाधीन बनते हैं।

सव्वे य तवविसेसा नियमविसेसा य गुणविसेसा य।
नत्थिय विणओ जेसिं मुक्खफलं निरत्थयं तेसिं ॥ ६० ॥

मोक्ष फल प्रदायक विनय जिसमें नहीं है, उसके विशिष्ट प्रकार के तप नियम, गुण निष्फल-निरर्थक बनते हैं [अर्थात् तपादि अनुष्ठान विनय पूर्वक ही सफल होते हैं]

पुव्वं परुवियो जिणवरेहिं विणओ अणंतनाणीहिं।
सव्वासु कम्मभूमिसु निच्चं चिय मुक्खमग्गंमि ॥ ६१ ॥

अनंतज्ञानी श्री जिनेश्वर प्रभुने सभी कर्मभूमियों में मोक्ष मार्गकी प्ररूपणा में सर्वप्रथम विनय का ही उपदेश दिया है।

जो विणओ तं नाणं जं नाणं सो हु वुच्चइ विणओ ।
विणएण लहइ नाणं नाणेण विजाणइ विणयं ॥ ६२ ॥

जो विनय है वही ज्ञान है, ज्ञान है वही विनय है, क्योंकि विनय से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से विनय का स्वरूप ज्ञात होता है। [विनय और ज्ञान परस्पर सहायक है]

सव्वो चरित्तसारो विणयंमि पइट्ठिओ मणुस्साणं ।
न हु विणयविप्पहीणं निग्गंथरिसी पसंसंति ॥ ६३ ॥

मनुष्यों के संपूर्ण चारित्र का सार विनय में प्रतिष्ठित है। [चारित्र की प्राप्ति और शुद्धि विनय से होती है] इस कारण विनय हीन मुनि की प्रशंसा निर्ग्रंथ महर्षि नहीं करते ।

सुबहुस्सुओवि जो खलु अविणीओ मंदसद्धसंवेगो ।
नाराहेइ चरित्तं चरित्तभट्ठो भमइ जीवो ॥ ६४ ॥

बहुश्रुत भी अविनीत और अल्प श्रद्धा-संवेगवाला हो तो चारित्र की आराधना नही कर सकता और चारित्र भ्रष्ट जीव संसार में भ्रमण करता है।

थोवेण वि संतुट्ठो सुएण जो विणय करणसंजुत्तो ।
पंच महव्वय जुत्तो गुत्तो आराह होइ ॥ ६५ ॥

जो मुनि अल्प भी श्रुतज्ञान से संतुष्ट चित्तवाला होकर विनय करने में तत्पर रहता है और पांचमहाव्रत का निरतिचार पालन करता है और मनवचन काया को गुप्त रखता है। वह अवश्य चारित्र का आराधक होता है।

बहुयंपि सुयमहीयं किं काही विणयविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि ॥ ६६ ॥

अधिक शास्त्रों का अध्ययन भी विनय रहित साधु को क्या लाभ करेगा ? लाखों करोडों दीपक भी अंध मानव को लाभ कर्ता नहीं होते। [विनय रूपी चक्षु के बिना शास्त्रज्ञान निरर्थक है ।]

विणयस्स गुणविसेसा, एव मह वन्निया समासेण ।
नाणस्स गुणविसेसा, ओहियहियया निसामेह ॥ ६७ ॥

इस प्रकार मैंने विनय के विशिष्ट लाभों का संक्षेप में वर्णन किया।अब विनय पूर्वक प्राप्त श्रुतज्ञान के विशिष्ट गुणोंका वर्णन सावधान चित्त से सुनों।

न हु सक्का नाउं नाणं जिन देसियं महाविसयं ।
ते धन्ना जे पुरिसा नाणी य चरित्तमंता य ॥ ६८ ॥

श्री जिन प्ररुपित महान विषय युक्त श्रुतज्ञान को पूर्णरूप से जानना शक्य नहीं है । [श्रुतसागर इतना व्यापक, विशाल, और गहन है कि विद्वान जन भी उसका पार पाने में असमर्थ है] अत: वे पुरुष धन्यवाद के पात्र है जो ज्ञानी और चारित्र संपन्न है ।

सक्का सुयनाणाओ उड्ढं च अहे च तिरियलोयं च ।
ससुरासुरमणुयं सगरुलभूयगं सगंधव्वं ॥ ६९ ॥

सुर, असुर, मनुष्य, गरुडकुमार, नागकुमार और गंधर्व देव सहित उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्छालोक का विशद स्वरुप श्रुतज्ञान से जाना जा सकता है ।

जाणंति बंधुमुक्खं जीवाजीवे य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरनिज्जर तो किर नाणं चरणहेऊ ॥ ७० ॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष इन नौ तत्त्वों को बुद्धिमान पुरुष श्रुत ज्ञान से जान सकता है । जिससे ज्ञान चारित्र का हेतु है ।

नायाणं दोसाणं विवज्जणा सेवणा गुणाणं च ।
धम्मस्स साहणाइं दुन्निवि किर नाणसिद्धाइं ॥ ७१ ॥

ज्ञात दोषों का त्याग और ज्ञातगुणों का सेवन अर्थात् धर्म के साधनभूत दोषत्याग और गुण सेवन ये दोनों ज्ञान द्वारा ही सिद्ध होते है ।

नाणेण विणा करणं करणेण विणा न तारयं नाणं ।
भवसंसार समुद्दं, नाणी करणट्ठिओ तरइ ॥ ७२ ॥

ज्ञान बिना चारित्र (क्रिया) और क्रिया बिना का अकेला ज्ञान भवतारक नहीं होता । परंतु चारित्र क्रिया संपन्न ज्ञानी ही संसार समुद्र से पार होता है।

नाणी वि अवट्टंतो, गुणेसु दोसे य ते अवज्जिंतो ।
दोसाणं च न मुच्चइ तेसिं नवि ते गुणे लहइ ॥ ७३ ॥

ज्ञानी होने पर भी क्षमादि गुणों में न वर्ते और क्रोधादि दोषों का त्याग

न करे तो वह कभी भी दोषमुक्त और गुण युक्त नहीं हो सकता ।

असंजमेण बद्धं अन्नाणेण य भवेहि बहुएहिं ।
कम्ममलं सुहमसुहं करणेण दढो धुणइ नाणी ॥ ७४ ॥

असंयम और अज्ञान दोष से अनेक भवार्जित शुभाशुभ कर्ममल को ज्ञानी चारित्रपालन के द्वारा समूल नष्ट करता है ।

सत्थेण विणा जोहो, जोहेण विणा य जारिसं सत्थं ।
नाणेण विणा करणं करणेण विणा तहा नाणं ॥ ७५ ॥

जैसे शस्त्र बिना अकेला योद्धा और योद्धा बिना के शस्त्र कार्य साधक नही होते वैसे ज्ञान रहित चारित्र और चारित्र रहित ज्ञान मोक्ष साधक नहीं होता ।

नादंसणस्स नाणं, न विणा नाणस्स हुंति करण गुणा ।
अगुणस्स नत्थि मुक्खो, नत्थिअमुक्ख(त्त)स्सनिव्वाणं ॥ ७६ ॥

मिथ्या दृष्टि को ज्ञान नही, ज्ञान बिना चारित्र गुण नहीं । गुण बिना मोक्ष नहीं मोक्ष बिना निर्वाण नहीं होता ।

जं नाणं तं करणं, जं करणं पवयणस्स सो सारो ।
जो पवयणस्ससारो, सो परमत्थत्ति नायव्वो ॥ ७७ ॥

जो ज्ञान वह चारित्र, चारित्र प्रवचनका सार, प्रवचन का सार वही परमार्थ है । ऐसा जानना ।

परमत्थ गहियसारा, बंधं मुक्खं च ते वियाणंता ।
नाउण बंधमुक्खं, खविंति पोराणयं कम्मं ॥ ७८ ॥

प्रवचन के परमार्थका ग्राहक बंध मोक्ष का ज्ञाता होता है और बंध मोक्ष का ज्ञाता पूर्व के कर्मोका क्षय करता है ।

नाणेण होइकरणं करणेण नाणं फासियं होइ ।
दुण्हं पि समाओगे होइ विसोही चरित्तस्स ॥ ७९ ॥

ज्ञान से सम्यक् क्रिया और क्रिया से ज्ञान आत्मसात् होता है इस प्रकार सद्ज्ञान और सत्क्रिया के योग से भाव चारित्र (स्वभाव रमणता) की विशुद्धि होती है ।

णाणं पयासयं सोहओ, तवो संजमो य गुत्तिध (क)रो ।
तिण्हं पि समाओगे, मुक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ ८० ॥

ज्ञान प्रकाशक है, तप शुद्धिकर है, संयम रक्षक है (नये कर्मोका निवारक) इस प्रकार ज्ञान, तप और संयम इन तीनों के योग से जिनशासन में मोक्ष कहा है ।

किं इत्तो लठ्ठयरं, अच्छेरतरं सुंदरतरं वा ।
चंदमिव सव्वलोगा, बहुस्सुयमुहं पलोयंति ॥ ८१ ॥

जिस प्रकार जगत के लोग चंद्र को देखते है वैसे ही बहुश्रुत गीतार्थ पुरुष के मुख को बार बार देखते है। इससे श्रेष्ठतर आश्चर्यकारक और अतिशय सुंदर कौनसी वस्तु है ।

चंदाओ नियइ जोण्हा बहुस्सुयमुहाउ नियइ जिणवयणं
जं सोऊण मणुस्सा, तरंति संसार कंतारं ॥ ८२ ॥

चंद्र से जैसे शीतल - निर्मल ज्योत्सना निकलती है, और सभी लोगोको आनंदित करती है, वैसे गीतार्थ ज्ञानी पुरुष के मुखसे चंदन समान शीतल जिनवचन निकलते है । जिसे श्रवणकर मनुष्य भवाटवी को पार करते हैं ।

सूई जहा ससुत्ता न नस्सई कयवरंमि पडियावि ।
जीवो तहा ससुत्तो न नस्सइ गयो वि संसारे ॥ ८३ ॥

धागे से युक्त सूई कचरे में गिरी हुई भी गुम नहीं होती, वैसे आगम का अभ्यासी ज्ञानी जीव संसार-भवनमें भटकने पर भी (अटकता नहीं। अर्थात्) अटवी को पार कर लेता है ।

सूई जहा असुत्ता नासइ सुत्ते अदिस्समाणंमि ।
जीवो तहा असुत्तो नासइ मिच्छत्तसंजुत्तो ॥ ८४ ॥

जैसे धागे से रहित सूई गुम हो जाती है वैसे सूत्र-शास्त्र बोध रहित मिथ्यात्व युक्त जीवभवाटवी में गुम हो जाता है । भ्रमण करता है ।

परमत्थंमि सुदिट्ठे अविणट्ठेसु तवसंजमगुणेसु ।
लब्भइ गई विसिट्ठा सरीरसारे विनट्ठेवि ॥ ८५

श्रुतज्ञान से परमार्थ का दर्शन होने से, तप-संयम गुण जीवनभर अखंडित रहने से मृत्यु के समय में शरीर संपत्ति का नाश होने पर भी जीवको विशिष्ट

गति-सद्गति और सिद्धिगति प्राप्त होती है ।

जह आगमेण विज्जो, जाणइ वाहिं तिगिच्छिउं निउणो ।
तह आगमेण नाणी, जाणइ सोहिं चरित्तस्स ॥ ८६ ॥

जैसे वैद्य वैदकशास्त्र के ज्ञान से रोग की निपुणता से चिकित्सा करना जानता है। वैसे श्रुतज्ञान से मुनि चारित्र की शुद्धि कैसे करनी उसे अच्छी प्रकार जानता है ।

जह आगमेण हीणो विज्जो वाहिस्स न गुणइ तिगिच्छं ।
तह आगमपरिहीणो, चरित्तसोहिं न याणेइ ॥ ८७ ॥

वैदक ग्रन्थों के ज्ञान बिना जैसे वैद्य व्याधि की चिकित्सा नहीं जान सकता वैसे आगमिक ज्ञान रहित मुनि चारित्र शुद्धि का उपाय नहीं जान सकता ।

तम्हातित्थयरपरुवियंमि नाणम्मि अत्थजुत्तम्मि ।
उज्जोओ कायव्वो नरेण मुक्खाभिकामेण ॥ ८८ ॥

उस कारण से मोक्षाभिलाषी आत्मा को भी तीर्थंकर प्ररुपित आगमों के सूत्र अर्थ के अध्ययन में सतत उद्यम करना चाहिए ।

बारसविहंमि वि तवे, सब्भिंतर बाहिरे जिणक्खाए ।
नविअत्थि नवि य होही, सज्झाय समं तवोकम्मं ॥ ८९ ॥

कहा भी है कि श्री जिनेश्वर परमात्मा के बताये हुए बाह्य और अभ्यंतर तप के बारह प्रकार में स्वाध्याय के समान अन्य कोइ तप न है, न होगा ।

मेहा होज्ज न हुज्जव जं मेहा उवसमेण कम्माणं ।
उज्जोओ कायव्वो नाणं अभिकंखमाणेण ॥ ९० ॥

ज्ञानाभ्यास की रूचिवालोको बुद्धि हो या न हो परंतु ज्ञानाभ्यास में उद्यम अवश्य करना चाहिए । क्योंकि बुद्धि ज्ञानावरणीयादि कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती हैं और उद्यम करने से कर्म का क्षयोपशम अवश्य होता है । [बुद्धि की मंदता जानकर उद्यम न करने से ज्ञानावरणीयादि कर्म नये बंधते है ।]

कम्ममसंखज्जभवं खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
बहुयभवसंचियं पि हु सज्झाएणं खणे खवइ ॥ ९१ ॥

असंख्य जन्मों के उपार्जित कर्म युक्त आत्मा उन कर्मों को प्रति समय

खपाता तो है ही। परंतु स्वाध्याय से अनेक भवोंके संचित कर्म क्षणभर में खपा देता है। नाश कर देता है।

सतिरिय सुरासुरनरो सकिंनर महोरगो सगंधव्वो ।
सव्वो छउमत्थजणो पडिपुच्छइ केवलिं लोए ॥ ९२ ॥

तिर्यंच, सुर, असुर, मानव, किन्नर, महोरग, गंधर्व सहित सभी छद्मस्थ जीवों के लिए जिज्ञासा के समाधान के लिए एक मात्र केवल ज्ञानी है। उनकी अनुपस्थितिमें विशिष्ट श्रुतज्ञानी है।

इक्कंमि वि जम्मि पए संवेगं वच्चइ नरो अभिक्खं ।
तं तस्स होइ नाणं जेण विरागणत्तणमुवेइ ॥ ९३ ॥

जो कोई एक या दो पद के श्रवण से मनुष्य सतत वैराग्य को प्राप्त करता है तो वे पद भी सम्यग्ज्ञान है। क्योंकि जिससे वैराग्य की प्राप्ति हो वही सत्य ज्ञान है।

इक्कंमि वि जंमि पए संवेगं वीयरायमग्गंमि ।
वच्चइ नरो अभिक्खं तं मरणंत ण मुत्तव्वं ॥ ९४ ॥

वीतराग परमात्माके मार्ग में जिस एक भी पद से मनुष्य ने तीव्र वैराग्य पाया हो उस पद को मरणांत तक भी नहीं छोडना चाहिए। न भूलना चाहिए।

इक्कंमि वि जंमि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
सो तेण मोहजालं खवेइ अज्झप्पजोगेहिं ॥ ९५ ॥

जिनशासन के जिस किसी एक पद से संवेग प्राप्त होता है, उस एक के आलंबन से अनुक्रम से अध्यात्म योग की आराधना द्वारा विशिष्ट धर्म शुक्ल ध्यान से समग्र मोहजाल को भेद देता है।

न हु मरणंमि उवग्गे सक्को बारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं धणियंपि समत्थचित्तेण ॥ ९६ ॥

मृत्यु के समय समग्र द्वादशांगी का चिंतन मनन होना यह अत्यन्त समर्थ चित्तवाले मुनि से भी शक्य नहीं है।

तम्हा इक्कंपि पयं, चिंततो तम्मि देसकालंमि ।
आराहणोवउत्तो जिणेहिं आराहगोभणिओ ॥ ९७ ॥

इससे उस देश-काल में एक भी पद (नवकारादि) का चिंतन आराधना में उपयुक्त होकर जो करता है, उसे जिनेश्वरों ने आराधक कहा है।

आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूणं लहइ निव्वाणं ॥ ९८ ॥

सुविहित मुनि आराधना में एकाग्र बन समाधि पूर्वक काल कर उत्कृष्ट से तीन भव में अवश्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

नाणस्स गुणविसेसा केइ मए वन्निया समासेणं ।
चरणस्स गुण विसेसा, ओहिय हियया निसामेह ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रुत ज्ञान के विशिष्ट गुण-महान लाभ का संक्षेप में वर्णन किया।

अब चारित्र के विशिष्ट गुण एकाग्र चित्त वाले बनकर सुनो ॥

'चारित्रगुण'

ते धन्ना जे धम्मं चरिउं जिण देसियं पयत्तेणं ।
गिहपासबंधाओ उम्मुक्का सव्वभावेणं ॥ १०० ॥

जिनेश्वर परमात्माके कहे हुए धर्मका प्रयत्न पूर्वक पालन करने के लिए जो सर्व प्रकार से गृहपाश के बंधन से मुक्त होते हैं। वे धन्य है।

भावेण अणण्णमणा जिणवयणं जे नरा अणुचरंति ।
ते मरणंमि उवग्गे न विसीयन्ति गुणसमिद्धा ॥ १०१ ॥

विशुद्ध भाव से एकाग्र चित्त युक्त होकर जो पुरुष (मानव) जिनवचन का पालन करता है। वे गुण-समृद्ध मुनि मृत्यु का समय आने पर भी अंश मात्र विषाद-ग्लानि का अनुभव नहीं करते।

सीयंति ते मणुस्सा सामण्णं दुल्लहंपि लद्धूण ।
जो अप्पा न निउत्तो दुक्खविमुक्खंमि मग्गंमि ॥ १०२ ॥

दु:ख मात्र से मुक्ति कारक ऐसे मोक्ष मार्ग में जिसने अपनी आत्मा को स्थिर नहीं बनाया वे दुर्लभ ऐसे श्रवणपने को प्राप्त करके भी दु:खी होते हैं।

दुक्खाण ते मणुस्सा, पारं गच्छंति जे य दढधीया ।
भावेणअणन्नमणा पारत्तहियं गवेसंति ॥ १०३ ॥

जो दृढ प्रज्ञावाले भाव से एकाग्र चित्तवाले होकर पारलौकिक हित की खोज करते हैं। वे मानव सभी दुःखों का पार पाते हैं।

मग्गंति परमसुहं ते पुरिसा जे खविंति उज्जुत्ता।
कोहं माणं मायं लोभं अरइं दुगंछं च ॥ १०४ ॥

संयम में अप्रमत्त होकर जो पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ, अरति और दुगंछा का नाश करते हैं वे परम सुख को अवश्य प्राप्त करते हैं।

लद्धुण वि माणुस्सं सुदुल्लहं जे पुणो विराहिंति।
ते भिन्नपोयसंजत्तिया व पच्छा दुही हुंति ॥ १०५ ॥

अत्यन्त दुर्लभ मानवभव पाकर जो उसकी विराधना करते है, जन्मको सार्थक नहीं करते वे वाहन के टूट ने से दुःखी होते हुए नाविकों के समान पीछे से अत्यन्त दुःखी होते हैं।

लद्धुण वि सामन्नं पुरिसा जोगेहिं जे न हायंति।
ते लद्धपोयसंजत्तिया, व पच्छा न सोयंति ॥ १०६ ॥

दुर्लभतर श्रमण धर्म को प्राप्त कर जो मुनि तीनयोग से उसकी विराधना नहीं करते वे समुद्र में नौका प्राप्त करने वाले नाविक समान पीछे से शोक को प्राप्त नहीं करते।

न हु सुलहं माणुस्सं लद्धुण वि होइ दुल्लहा बोही।
बोहीए वि य लंभे सामन्नं दुल्लहं होइ ॥ १०७ ॥

सर्व प्रथम मानव भव की प्राप्ति ही दुर्लभ, उसमें भी बोधि दुर्लभ, उसमें श्रमणपना मिलना तो अत्यन्त दुर्लभ है।

सामन्नस्स वि लम्भे नाणाभिगमो य दुल्लहो होइ।
नाणंमि य आगमिए, चरित्तसोही हवइ दुल्लहा ॥ १०८ ॥

साधु वेश मिलने के बाद भी शास्त्रों का रहस्य ज्ञान दुर्लभ, उससे भी चारित्र की शुद्धि अत्यन्त दुर्लभ है। इसीसे ज्ञानी पुरुष आलोचनादि द्वारा चारित्र की विशुद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

अत्थि पुण केइ पुरिसा, संमत्तं नियमसो पसंसंति।
केई चरित्त सोहिं नाणं च तहा पसंसंति ॥ १०९ ॥

कितने ही जीव समकित की नियमा प्रशंसा करते हैं, कितने ही चारित्र शुद्धि की, तो कितने ही ज्ञान की प्रशंसा करते हैं। [यहां अपेक्षाभेद से एक एक की मुख्यता दर्शायी है]

सम्मत्त चरित्ताणं दुण्हंपि समागयाण सत्ताणं ।
किं तत्थ गिहियव्वं पुरिसेणं बुद्धिमन्तेणं ॥ ११० ॥

सम्यक्त्व और चारित्र दोनों गुण साथ में प्राप्त होते हो तो बुद्धिशाली पुरुष को कौनसा प्रथम ग्रहण करना ?

सम्मत्तं अचरितस्स, हवइ जहा कण्ह-सेणियाणं तु ।
जे पुण चरित्तमंता, तेसिं नियमेण संमत्तं ॥ १११ ॥

चारित्र के बिना समकित कृष्ण-श्रेणिकराजा के समान होता है। परंतु चारित्रवान जो है उनमें तो नियम से सम्यक्त्व होता ही है। [अत: चारित्र गुण की श्रेष्ठता होने से प्रथम चारित्र ग्रहण करना]

भट्ठेण चरित्ताओ, सुट्ठयरं दंसणं गहेयव्वं ।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति ॥ ११२ ॥

चारित्र से भ्रष्ट हो जाने पर भी श्रेष्ठतर सम्यक्त्व को तो ग्रहण कर रखना ही चाहिए क्योंकि द्रव्य चारित्र से रहित व्यक्ति सिद्ध हो सकता है परंतु दर्शन गुण रहित जीव सिद्ध नहीं हो सकता ।

उक्कोसचरित्तो वि य पडेइ मिच्छत्तभावओ कोइ ।
किं पुण सम्मद्दिट्ठी, सरागधम्मंमि वट्टंतो ॥ ११३ ॥

उत्कृष्ट चारित्रधर भी किसी मिथ्यात्व के योग से संयम से गिर जाता है। तो सराग धर्ममें प्रवर्त समकिती आत्मा पतित हो जाय इसमें क्या आश्चर्य ?

अविरहिया जस्समई पंचहि समिईहिं गुत्तीहिं ।
न कुणइ रागदोसे, तस्स चरित्तं हवइ सुद्धं ॥ ११४ ॥

जिस मुनि की बुद्धि पांच समिति, तीन गुप्ति से युक्त है और जो राग द्वेष नहीं करता है। उसका चारित्र शुद्ध है।

तम्हा तेसु पवत्तह, कज्जेसु य उज्जमं पयत्तेण ।
सम्मत्तंमि चरित्ते, नाणंमि य मा पमाएह ॥ ११५ ॥

उस चारित्र की शुद्धि के लिए प्रवचन माता के पालन में प्रयत्न पूर्वक उद्यम करो और सम्यगदर्शन-चारित्र और ज्ञानकी साधना में प्रमाद मत करो।

चरणस्स गुण विसेसा, एए मइ वन्निया समासेणं
मरणस्स गुण विसेसा, ओहियहियया निसामेह ॥ ११६ ॥

इस प्रकार चारित्र धर्म के गुणों के महान लाभों का संक्षेप में वर्णन किया। अब समाधि मरण के गुण वर्णन को एकाग्र चित्त से सुनो।

मरणगुण

जहअनियमियतुरए, अयाणमाणो नरो समारूढो ।
इच्छेइ पराणीयं, अइक्कंतु जो अकयजोगो ॥ ११७ ॥
सो पुरिसो सो तुरओ पुव्वं अनियमिय करण जोगेणं ।
दट्ठूण पराणीयं, भज्जंति दोवि संगामे ॥ ११८ ॥

जैसे अशिक्षित अश्व पर सवार अशिक्षित सैनिक शत्रु सैन्य को जितना चाहे परंतु दोनों अशिक्षित होने से शत्रु शैन्य को देखते ही भाग जाते हैं।

एवमकारिय जोगो, पुरिसो मरणे उवट्ठिए संते ।
न भवइ परीसहसहो, अंगेसु परिसहनिवाए ॥ ११९ ॥

इस प्रकार परिषहोंकों सहन करने में अनभ्यासी मुनि मृत्यु के समय शरीर पर आनेवाले रोगादि की तीव्र वेदना सहन नहीं कर सकता।

पुव्वं कारियजोगो समाहिकामो य मरणकालंमि ।
भवइ य परिसहसहो, विसयसुहनिवारओ अप्पा ॥ १२० ॥

पूर्व में तपादि करनेवाला समाधिका इच्छुक मुनि मरण समय में भौतिक सुखों की इच्छा को रोकने से परीषहों को अवश्य समता पूर्वक सहन कर सकता है।

पुव्विं कयपरिकम्मो पुरिसो मरणे उवट्ठिए संते ।
छिंदइ परिसहचमूं, निच्छयपरसुप्पहारेण ॥ १२१ ॥

पूर्वमें आगमोक्त विधि पूर्वक विगइ त्याग उनोदरी आदि तपद्वारा क्रमशः सब आहार का त्याग करनेवाला मुनि मरण समय में निश्चय नय रूप परशुके प्रहार से परीषह सेना को छेद देता है। [मेरी आत्मा शाश्वत है, सिद्ध समान है, शरीर से भिन्न है इत्यादि विचारणा यह परशु है]

बाहिंति इंदियाइं पुव्वमकारियपयत्तचारितस्स ।
अकयपरिकम्मकीवो, मुज्झइ आराहणा काले ॥ १२२ ॥

पूर्व में चारित्र पालन में प्रबल पुरुषार्थ न करनेवाले मुनि को मरण समय में इंद्रियाँ समाधि में व्याधि विघ्न उत्पन्न करती हैं । इससे अंतिम आराधना में वह भयभीत हो जाता है ।

आगम संजुत्तस्स वि इंदियरसलोलुपं पइट्ठस्स ।
जइ वि मरणे समाही हविज्ज न बि हुज्ज बहुयाणं ॥ १२३ ॥

आगमाभ्यासी मुनि इंद्रियों की आसक्ति वाला हो तो मरण समयमें समाधि रहे और न भी रहे । शास्त्रवचन याद आ जाय तो रहे और इंद्रिय गृद्धि आ जाय तो शास्त्र वचन विस्मृत हो जाने से समाधि नहीं रहे । प्रायः ऐसा होता है ।

असमत्तसुओ वि मुणी पुव्वं सुकयपरिकम्मपरिहत्थो ।
संजममरणपइण्णं सुहमव्वहिओ समाणेइ ॥ १२४ ॥

अल्पज्ञानी भी तपादि अनुष्ठानसे संयम और मरण की प्रतिज्ञा को व्याकुल हुए बिना अच्छी प्रकार पूर्ण करता है । मरण समय में समाधि रख सकता है ।

इंदियसुहसाउलओ घोर परीसहपरव्वसविउत्तो ।
अकयपरिकम्मकीवो, मुज्झइ आराहणाकाले ॥ १२५ ॥

इंद्रियों की शाता में व्याकुल, घोर परीषहों की पराधीनता से ग्रसित, तपादि का अनभ्यासी कायर मुनि अंतिम आराधना के काल में भयभीत हो जाता है ।

न चएइ किंचि काउं पुव्वं सुकय परिकम्मबलीयस्स ।
खोहं परिसहचमूं, धिइबलविणिवारिया मरणे ॥ १२६ ॥

पूर्व से ही अच्छी प्रकार तप संयम की साधना से शक्तिशाली बने मुनि को मरण समय में धृतिबलसे दूर की हुई परीषहकी सेना कोई भी विघ्न करने में समर्थ नहीं रहती । [समाधि भाव से चलित नहीं कर सकती]

पुव्वं कारियजोगो अनियाणो ईहिऊण मइकुसलो ।
सव्वत्थ-अपडिबद्धो, सकज्जजोगं समाणेइ ॥ १२७ ॥

प्रारंभ से ही कठिन तप-संयम की साधना करनेवाला बुद्धिमान मुनि स्वयं के हित का विचार कर नियाणारहित द्रव्य-क्षेत्रादि के प्रतिबंध से दूर वह मुनि

स्व कार्य-समाधि योग कों अच्छी प्रकार कर लेता है ।

उप्पीलियसरासणगहियाउहचावनिच्छयमईओ ।
विंधइ चंदगविज्झं, ज्झायंतो अप्पणो सिक्खं ॥ १२८ ॥

धनुष्य ग्रहण कर उस पर खींच कर बाण चढाकर लक्ष्यको निश्चित कर अपनी शिक्षाका विचारक चंद्रकवेध्य-राधावेध को विंधता-साधता है ।

जइ य करेइ पमायं थोवंपि य अन्नचित्तदोसेणं ।
तह कयसंधाणो, वि य चंदगविज्झं न विंधेइ ॥ १२९ ॥

परंतु वह धनुर्धर अपने चित्त को लक्ष्य से अन्यत्र ले जाने का प्रमाद करले तो प्रतिज्ञा बद्ध होते हुए भी चंद्रक वेध्य-राधाचंद्रक (आंख की कीकी) रूप वेध्य को छेद नहीं सकता ।

तम्हा चंदगविज्झस्स, कारणा अप्पमाइणा निच्चं ।
अविराहियगुणो अप्पा कायव्वो मुक्खमग्गंमि ॥ १३० ॥

चंद्रकवेध्य के समान मरण समय में समाधि प्राप्त करने के लिए स्वयं की आत्मा को मोक्ष मार्ग प्रति अविराधित गुणवाला बनाना चाहिए ।

संमत्तलद्धबुद्धिस्स, चरिमसमयंमि वट्टमाणस्स ।
आलोइयनिंदियगरहियस्स, मरणं हवइ सुद्धं ॥ १३१ ॥

सम्यग्दर्शन की दृढता से निर्मल बुद्धिवाला मुनि स्वकृत पाप की आलोचना, निंदा, गर्हा करनेवाले मुनि का मरण शुद्ध होता है । समाधि मरण होता है ।

जे मे जाणंति जिणाअवराहा नाणदंसण चरित्ते ।
ते सव्वे आलोए, उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥ १३२ ॥

ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विषय में मेरे द्वारा जो अपराध हुए हैं वे जिनेश्वर भगवंत जानते हैं । उन अपराधों की आलोचना के लिए तीन योग तीन करण से उपस्थित हुआ हूँ ।

जो दुन्नि जीवसहिया, रूंभइ संसारबंधणा पावा ।
रागं दोसं च तहा, सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १३३ ॥

संसार में बंध कारक जीव संबंधी राग-द्वेष रूप दो पाप को जो दूर करता है । वह मरण समय में समाधि में रहता है ।

जो तिन्नि जीवसहिया दंडा मणवयणकाय गुत्तीओ ।
नाणंकुसेण गिण्हइ सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १३४ ॥

जो पुरुष जीव संबंधी मन वचन काया रूपी दंडको ज्ञानांकुश रूपी तीन गुप्ति से निग्रह करता है। वह मरण समय में कृतयोगी यानि अप्रमत्त रहकर समाधि में रह सकता है।

जो चत्तारि कसाए घोरे ससरीरसंभवे निच्चं ।
जिणगरहिए निरुंभइ सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १३५ ॥

जिनेश्वरों से गर्हित स्वशरीर [या संसार] में उत्पन्न भयंकर क्रोधादि चार कषायों का जो नित्य निग्रह करता है। वह मरण समय में समतायोग को सिद्ध करता है। [क्रोधादि के प्रतिस्पर्द्धी गुणों द्वारा]

जो पंचइंदियाइं सन्नाणी विसयसंपलित्ताइं ।
नाणंकुसेण गिण्हइ सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १३६ ॥

जो ज्ञानी मुनि विषयों में अत्यंत आसक्त इंद्रियों को ज्ञान रूप अंकुश से निग्रह करता है। वह मरण समयमें समाधि का साधक बनता है।

छज्जीव निकायहिओ सत्तभयट्ठाणविरहिओ साहू ।
एगंतमद्दवमओ सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १३७ ॥

छजीव निकाय का हितस्वी, इहलोकादि सातोंभयों से रहित अत्यन्त मृदु नम्र स्वभाव वाला मुनि नित्य सहज समता का अनुभव करता हुआ मरण समय में परम समाधि का साधक होता है।

जेणं जिया अट्ठमया, गुत्तो वि हु नवहिं बंभगुत्तीहिं ।
आउत्तो दसकज्जे, सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १३८ ॥

जिस ने आठ मदोंको जीत लिए है, जो नव ब्रह्मचर्यकी गुप्ति से गुप्त है, जो दशयतिधर्म पालन में उद्यत है, वह मरण समय में अवश्य समता समाधि भाव प्राप्त करता है।

आसायणाविरहिओ, आराहिंसु दुल्लहं मुक्खं ।
सुक्कज्झाणाभिमुहो, सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १३९ ॥

जो अत्यन्त दुर्लभ ऐसे मोक्षमार्गकी आराधना का इच्छुक, देव-गुरू आदि की आशातना का वर्जक और धर्मध्यान का अभ्यासी, शुक्लध्यान सन्मुख हो

वह मरण समय में समाधि प्राप्त करता है ।

जो वि सहइ बावीसं परीसहा, दुस्सहा उ उवसग्गा ।
सुण्णे व आउले, वा, सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १४० ॥

जो मुनि क्षुधादि बाईस परीषह और दु:सह ऐसे उपसर्गो को निर्जन स्थानों में, ग्राम नगर आदि में सहन करता है, वह मरणकाल में समाधि रख सकता है।

धन्नाणं तु कसाया, जगडिज्जंता वि परकसाएहिं ।
निच्छंति समुट्ठिता सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥ १४१ ॥

धन्य पुरूषों के कषाय दूसरों के कषायों से टकराने पर भी अच्छी प्रकार बैठे हुए पंगु मानव के समान उठने की इच्छा भी नहीं करते । [निमित्त मिलने परभी कषाय उत्तेजित्त नहीं होते]

सामन्नमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा हुंति ।
मन्नामि उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामन्नं ॥ १४२ ॥

श्रमणधर्म के आराधक साधु के कषाय जो उत्कट कोटि के हो तो उसका श्रमणपना ईक्षु के पुष्प समान निष्फल है ऐसा मेरा मानना है । [शास्त्र में कहा है -]

जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए य पुव्वकोडीए ।
तं पि कसाइयचित्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेण ॥ १४३ ॥

कुछ न्यून पूर्व करोड वर्ष तक आचरित निर्मल चारित्र भी कषाय से कलुषित चित्त वाले मुनि का एक मुहूर्त मात्र में नष्ट हो जाता है ।

जं अज्जियं च कम्मं अणंतकालं पमायदोसेणं ।
तं निहयरागदोसो खविज्ज पुव्वाण कोडीए ॥ १४४ ॥

अनंतकाल से प्रमाद दोष से अर्जित कर्मो को, राग द्वेष को परास्त करनेवाला मुनि पूर्व क्रोड वर्ष में नष्ट कर देता है ।

जह उवसंत कसाओ, लहइ अणंतं पुणोवि पडिवायं ।
किं सक्का वीससिउं थोवेवि कसायसेसंमि ॥ १४५ ॥

जो उपशांत कषाय वान आत्मा उपश म श्रेणिमें आरूढ योगी अनंत काल तक परिभ्रमण करता है तो शेष उन आंशिक कषायों का भी विश्वास कैसे

किया जाय ? [मंद कपायों का भी विश्वास नहीं करना]

खीणेसु जाण खेमं जियं, जिएसु अभयं अभिहएसु ।
नट्ठेसु याविणट्ठं सुक्खं च जओ कसायाणं ॥ १४६ ॥

जो कषायों का क्षय हुआ हो तो स्वयंका क्षेम-कुशल, जो जीत लिए हो तो वास्तविक जय, हत प्रहत हुए हो तो अभय और सर्वथा नाश हो गया हो तो अविनाशी सुख प्राप्त होनेवाला है ऐसा जानो ।

धन्ना निच्चमरागा, जिणवयणरया नियत्तियकसाया ।
निस्संगनिम्ममत्ता, विहरंति जहिच्छिया साहू ॥ १४७ ॥

धन्य है उन साधु भगवंतो को जो नित्य जिनवचन में मग्न है, कषाय पर जय प्राप्त करते हैं, बाह्य पदार्थों पर राग नहीं है और निःसंग निर्ममत्व होकर यथेच्छ रीति से संयम मार्ग में विचरण करते हैं ।

धन्ना अविरहियगुणा, विहरंती मुक्ख मग्ग मल्लीणा ।
इहय परत्थय लोए, जीवियमरणे अपडिबद्धा ॥ १४८ ॥

मोक्षमार्ग में तत्पर जो महामुनि अविरहित गुण युक्त (क्षमादि गुणोंका कभी अभाव न हो) होकर इस लोक और परलोक, जीवन या मरण में प्रतिबंध रहित संयम मार्ग में विचरते हैं, वे धन्य है ।

मिच्छत्तं वमिऊणं सम्मतंमि धणियं अहिगारो ।
कायव्वो बुद्धिमया, मरणसमुग्घायकालंमि ॥ १४९ ॥

बुद्धिमान पुरूष को मरण समुद्घातके समय में मिथ्यात्व दूर कर सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए [प्राप्त सम्यक्त्व को विशुद्ध करने के लिए) प्रबल पुरूपार्थ अवश्य करना चाहिए। [अंत समय में शंका कांक्षादि अतिचारों की निन्दा करनी ही चाहिए]

हंत (?) बलियंमिधीरा, मरणे पच्छा उवट्ठिए संते ।
मरणसमुग्घाएणं, अवसा निज्जंति मिच्छत्तं ॥ १५० ॥

दुःख की बात है कि महान धीर पुरूष भी शक्तिशाली मरण उपस्थित होने पर मरण समुद्घात की तीव्र वेदना से व्याकुल होकर मिथ्यात्व दशा को प्राप्त करते हैं ।

तो पुव्वं बुद्धिमया, आलोइय निंदिउं गुरुसग्गासे ।
कायव्वा अप्पसुद्धी, पव्वज्जाइ य जे सरइ ॥ १५१ ॥

इस कारण से बुद्धिशाली मुनिको सदगुरू के पास दीक्षा के दिन से किये हुए पापों को याद कर उसकी आलोचना, निंदा, गर्हा करने के द्वारा पाप की शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिए ।

ताहे जं दिज्ज गुरु, पायच्छित्तं जहारिसं जस्स ।
इच्छामित्ति भणिता, अहमवि नित्थारिओ तुब्भे ॥ १५२ ॥

उस समय गुरू को जो उचित लगे वह प्रायश्चित्त दे उसका इच्छा पूर्वक स्वीकार करे और गुरू का अनुग्रह उपकार मानता हुआ कहें आपने मुझे इस पाप पंक से निकालकर भव सागर से पार किया है ।

परमत्थाउ मुणीणं, अवराहो नेव होइ कायव्वो ।
च्छलियस्स पमाएणं पच्छित्तमवस्स कायव्वं ॥ १५३ ॥

परमार्थ से मुनियों को अपराध करना ही नही चाहिए। प्रमादवश क्वचित् अपराध हो जाय तो उसका प्रायश्चित अवश्य कर लेना चाहिए ।

पच्छित्तेण विसोही पमायबहुलस्स होइ जीवस्स ।
तेण तयंकुसभूयं, चरियव्वं चरणरक्खट्ठा ॥ १५४ ॥

प्रमाद की बहुलता वाले जीव की विशुद्धि प्रायश्चित्त से ही हो सकती है। चारित्र की रक्षा के लिए दोष के अंकुशभूत प्रायश्चित्त का अवश्य आचरण करना चाहिए ।

न वि सुज्झंति ससल्ला जह भणियं सव्वभावदंसीहिं ।
मरणपुणब्भवरहिया, आलोयणनिंदणा साहू ॥ १५५ ॥

शल्ययुक्त जीवोंकी कभी भी शुद्धि नहीं होती ऐसा श्री सर्वभावदर्शी श्री जिनेश्वर भगवंतने कहा है। पाप की आलोचना, निन्दा करनेवाले मुनि मरण और जन्म से रहित होते हैं ।

इक्कं ससल्लमरणं मरिऊण महब्भवं (यं) मि संसारे ।
पुणरवि भमंति जीवा जम्मणमरणाइं बहुयाइं ॥ १५६ ॥

एक बार भी शल्य सहित मरण से मरकर जीव महाभयानक इस संसार में बार बार अनेक जन्म और मरण करते हुए भ्रमण करता है ।

पंचसमिओ तिगुत्तो सुचिरं कालं मुणी विहरिऊणं ।
मरणे विराहयंतो धम्ममणाराहओ भणिओ ॥ १५७ ॥

जो मुनि पांच समिति से सावधान होकर तीन गुप्ति से गुप्त होकर चिरकालतक विचरण कर जो मरण समय में धर्म की विराधना करे तो उसको ज्ञानी अनाराधक कहते हैं ।

बहुमोहो विहरित्ता, पच्छिमकालंमि संवुडो सो उ ।
आहारणोवउत्तो, जिणेहिं आराहओ भणिओ ॥ १५८ ॥

अधिक समय तक अत्यन्त मोहवश जीवन जीकर अंतिम समय में जो संवर भाव युक्त होकर मरण समय में आराधना में उपयुक्त रहे तो जिनेश्वरों ने उसे आराधक कहा है ।

तो सव्वभावसुद्धो आराहणमभिमुहो विसंभंतो ।
संथारं पडिवन्नो इणमं हियए विचिंतिज्जा ॥ १५९ ॥

इससे सर्वभाव से शुद्ध आराधनाभिमुख होकर भ्रांति रहित होकर अनशन स्वीकृत मुनि अपने हृदय में निम्न प्रकार से चिंतन करे ।

इक्को मे सासओअप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिराभावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १६० ॥

मेरी आत्मा एक है, शाश्वत है, ज्ञान दर्शन युक्त है, शेष सर्व देहादि बाह्य पदार्थ बाह्य संयोग संबंध से उत्पन्न है ।

इक्को हं नत्थि मे कोइ, नत्थि वा कस्सइ अहं ।
न तं विक्खामि जस्साहं, न सो भावो य जो महं ॥ १६१ ॥

मैं एक हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं किसीका नहीं हूँ, जिसका हूँ उसे देख नहीं सकता और ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो मेरा हो ।

देवत्तमाणुसत्तं तिरिक्खजोणीं तहेव नरयं च ।
पत्तो अणंतखुत्तो, पुव्वं अन्नाणदोसेणं ॥ १६२ ॥

पूर्व में अज्ञान दोष से अनंत बार देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति में भ्रमण कर चुका हूँ ।

न य संतोसं पत्तो, सएहिं कम्मेहि दुक्खमूलेहिं ।
न य लद्धा परिसुद्धा, बुद्धी सम्मत्तसंजुत्ता ॥ १६३ ॥

परंतु दुःख के कारणभूत स्वयं के कर्मोसे अभी तक मुझे न तो संतोष प्राप्त हुआ और न सम्यक्त्व युक्त विशुद्ध बुद्धि प्राप्त हुई ।

सुचिरंपि ते मणुस्सा, भमंति संसारसायरे दुग्गे ।
जे य करंति पमायं, दुक्खविमुक्खंमि धम्मंमि ॥ १६८ ॥

दुःख से मुक्ति वाचकधर्म में प्रमादी जीव महा भयंकर ऐसे संसार समुद्र में दीर्घकाल तक भ्रमण करते हैं ।

दुक्खाण ते मणुसा पारं गच्छंति जे य दढधिईया ।
पुव्वपुरिसाणुचिन्नं जिणवयणपहं न मुंचंति ॥ १६५ ॥

दृढस्थिर बुद्धिवाले मानव पूर्वपुरूषाचरित जिनवचन के मार्ग को नहीं छोडते वे सर्व दुःख से मुक्त बनते हैं ।

मग्गंति परम सुक्खं ते पुरिसा जे खवंति उज्जुत्ता ।
कोहं माणं मायं लोभं तह राग दोसं च ॥ १६६ ॥

जो उद्यमी जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष का क्षय करता है, वह परम शाश्वत सुख को प्राप्त करता है ।

नवि माया नविय पिया न बंधवा नवि पियाइं मित्ताइं ।
पुरिसस्स मरणकाले, न हुंति आलंबणं किंचि ॥ १६७ ॥

मानव के मरण समय में माता, पिता, भाई, प्रिय मित्र, कोई भी किंचित् मात्र भी आलंबन रूप नहीं बनते । मरण से बचा नहीं सकते ।

हिरन्नं सुवन्नं वा दासीदासं च जाणज्जुग्गं वा ।
पुरिसस्स मरणकाले, न हुंति आलंबणं किंचि ॥ १६८ ॥

रजत, स्वर्ण, दास, दासी, रथ, पालखी आदि कोई भी बाह्य पदार्थ मरण समय में आलंबन नहीं हो सकते ।

आसबलं हत्थिबलं जोहबलं धणुबलं रहबलं च ।
पुरिसस्समरणकाले, न हुंति आलंबणं किंचि ॥ १६९ ॥

अश्वबल, गजबल, सैनिकबल, धनुर्बल, रथबल आदि कोई भी संरक्षक पदार्थ मरण से बचा नही सकते ।

एवं आराहितो जिणोवइट्ठं समाहिमरणं तु ।
उद्धरिय भाव सल्लो, सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ॥ १७० ॥

इस प्रकार संकलेश को दूर कर भावशल्य का उद्धार करनेवाली आत्मा जिनोक्त समाधि मरण की आराधना से शुद्ध होती है ।

जाणंतेण वि जइणा वयाइयारस्स सोहणोवायं ।
परसक्खिया विसोही कायव्वा भावसल्लस्स ॥ १७१ ॥

व्रतोंके अतिचारों की शुद्धि के उपायों के ज्ञाता मुनिको भी अपने भावशल्य की विशुद्धि गुरू आदि की साक्षीसे ही करनी चाहिए ।

जह सुकुसलो वि विज्जो अन्नस्स कहेइ अप्पणो वाही (हिं)
सो से करेइ तिगिच्छं, साहू वि तहा गुरु सगासे ॥ १७२ ॥

एक चिकित्सक कुशल भी स्वरोग की चिकित्सा दूसरे से करवाता है वैसे मुनि को भी गुरु के पास आलोचना लेनी चाहिए ।

इत्थं समुप्पइ मुणिणो पव्वज्जा मरणकालसमयंमि ।
जो उ न मुज्झइ मरणे साहू (सो हू ?) आराहओ भणिओ ॥ १७३॥

इस प्रकार मरण समय में मुनिको विशुद्ध चारित्र परिणाम उत्पन्न होते है, जो मुनि मरण समय में मोहित नहीं होता, उसे ज्ञानी आराधक कहते हैं।

विणयं आयरियगुणे सीसगुणे विणयनिग्गहगुणे य ।
नाण गुणे चरणगुणे मरणगुणविहिं च सोऊण ॥ १७४ ॥
तह वत्तह काउं जे जह मुंचह गब्भवासवसहीणं ।
मरणपुणब्भव-जम्मणदुग्गइविणिवायगमणाणं ॥ १७५ ॥

हे मुमुक्षुआत्मा ! विनय, आचार्यगुण, शिष्यगुण, विनय निग्रहगुण, ज्ञानगुण, चरणगुण और मरणगुण की विधि सुनकर इस प्रकार जीवन जीओ कि जिससे गर्भावास के दु:ख से, मरण, पुनर्भव, जन्म और दुर्गति गमन से सर्वथा मुक्त हो सको ऐसी इस ग्रन्थकार के हृदयकी अभिलाषा है ।

मुनिराजश्री जयानंद विजयजी महाराज द्वारा
लिखित एवं संपादित पुस्तकोंकी प्राप्ति हेतु
आजीवन सदस्य योजना
Rs. 500/00

प्रकाशन कार्य होगा तब तक राशि रखी
जायेगी बादमें राशि वापिस लौटायी जायगी

निवेदक
श्री गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति
भीनमाल 343 029

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी
साँथू ३४३ ०२६

संपर्कसूत्र
शा देवीचंद छगनलाल
सदर बाजार
भीनमाल ३४३ ०२९